जैनेन्द्र के साहित्य में सृजन का केन्द्रीय भाव

चरत सिंह एम.ए.(हिन्दी) यू.जी.सी. नैट (हिन्दी)
पता : पुत्र श्री बाबू राम, मकान नं0 131 वार्ड नं0 7 गांव कोटली(64)
सिरसा–125055 हरियाणा

सर्जनात्मक भाव नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा की सहायता से नये प्रसंगों, पात्रों अथवा अन्य उपकरणों के संयोजन से निर्माण की ओर प्रवृत्त रहता है। उसमें कर्मशीलता है; जबकि भाव, नियम–निर्धारण के आधार पर, उस निर्माण की परीक्षा कर, अपना निर्णय देता है। उसमें कर्म नहीं, कर्म का परीक्षण है।

भाव और सृजन के पारस्परिक सम्बन्ध के स्पष्टीकरण के लिए, दोनों के स्वरूप का विश्लेषण अपेक्षित होगा। भाव में तथ्यों और विचारों को व्यवस्थित, वैज्ञानिक एवं तर्कयुक्त विधि से प्रस्तुत करना आवश्यक है। भावना, अनुभूति, संवेदना अथवा कल्पना द्वारा द्रवण तब तक महत्त्वपूर्ण नहीं है, जब तक तर्क एवं प्रमाण द्वारा उनकी सिद्धि तथा पुष्टि न हो। ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त प्रत्यक्ष अनुभव तथा तर्क पर आश्रित निष्कर्षों की ही चिन्तक स्थापना करते हैं, इसी से चिन्तक, पाठक की बुद्धि अथवा तर्क–शक्ति को प्रभावित करने में सहज समर्थ होते हैं। वे सीधे प्रत्यक्ष ज्ञान की बात करते हैं, उसे कलाकार का भांति किन्हीं अन्य उपकरणों के माध्यम से प्रेषित नहीं करते।

ज्ञान–विज्ञान के विकास के साथ 'सृजन' की परिकल्पना में भी अनेक नवीन आयाम जुड़े हैं। आज बुद्धि को निर्वासित कर मात्र भाव की प्रेरणा से सृजन सम्भव नहीं माना जाता। वस्तुतः सृजन, सृजन–प्रक्रिया, अथवा सर्जनात्मक भाव का स्वरूप अन्य मानवीय क्रियाओं के समान पूर्णतः स्पष्ट नहीं है। यद्यपि उसे स्पष्ट करने के लिए वैज्ञानिकों ने महत् प्रयत्न किया है, फिर भी उसके कुछ सोपान आज भी रहस्यपूर्ण बने हुए हैं। सृजन के लिए ऐसे मौलिक विचार का होना आवश्यक है; जिसे मुर्त्त रूप में अभिव्यक्त करने पर, जीवन–मूल्यों के सन्दर्भ में नयी अर्थवत्ता प्रकट हो तथा जो सशक्त भावात्मक प्रेरणा बन सके। ऐसे विचार के बिज–वपन के साथ ही सर्जनात्मक भाव, दावाग्नि के समान धधक उठता है। निर्बाध कल्पना विभिन्न उपकरणों को जन्म दे, उनके विभिन्न संयोजनों का निर्माण कर डालती है। इस गुणन प्रक्रिया को मर्यादित करने का कार्य सर्जनात्मक तर्क करता है और तत्काल ही अनावश्यक संयोजनों, प्रत्ययों, बिम्बों, घटनाओं, पात्रों का त्याग कर, आवश्यक उपकरण का ग्रहण कर, रचना का रूप स्पष्ट करता है। यह सर्जनात्मक तर्क, सर्जनात्मक भाव में

ही अन्तर्भुत है। किन्तु अनेक बार अपनी प्रथम अभिव्यक्ति में साहित्यकार का अपना विवेक उस रचना से सन्तुष्ट नहीं होता। वह उसमें संशोधन करता है। इसका अर्थ यह हुआ कि साहित्यकार में उसके सृजन–भाव में अन्तर्भूत सर्जनात्मक–तर्क से पृथक् भी एक समीक्षक अथवा काव्य–शास्त्री बैठा है, जो उसके सर्जनात्मक भाव पर टीका–टिप्पणी कर उसमें संशोधन करता है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सर्जनात्मक भाव के अनेक स्तरों में भी सृजन–शून्य, समीक्षक–बौद्धिक–क्रिया साथ–साथ चलती है। अतः साहित्यकार में सर्जनात्मक समीक्षात्मक शक्तियां इस प्रकार उलझी हुई हैं कि उनको सर्वथा पृथक् करना कठिन है। लेखन के बीज–वपन का कार्य विचार करता है, उसका विकास, पोषण तथा रंग–रूप–आकार को अस्तित्व सर्जनात्मक भाव प्रदान करता है, तथा उसका परिष्कार साहित्यशास्त्रीय भाव करता है।

मानव–मन की मुख्यतः दो वृत्तियां होती हैं, जिन्हें हम 'कर्ता' और 'समीक्षक' की संज्ञा दे सकते हैं। कर्ता की प्रवृत्ति सर्जनात्मक साहित्यकार को जन्म देती है; तथा आलोचना अथवा निरीक्षण की प्रवृत्ति चिन्तक के जन्म का निमित्त कारण बनती है। सर्जनात्मक साहित्य में भाव–तत्त्व प्रधान है, सृजन का केंद्रिय भाव। सर्जनात्मक साहित्यकार संवेदना के धरातल पर व्यक्ति को छूता है, चिन्तक तर्क के धरातल पर। साहित्यकार रचना करता है; चिन्तक सृजन का केंद्रिय भाव, विश्लेषण, सिद्धान्त–निष्कर्षण तथा दिषा–निर्देषन। दृष्टिकोण, पद्धति तथा प्रतिभा का यही अन्तर एक को सर्जनात्मक साहित्यकार की संज्ञा से विभूषित करता है, दूसरे को चिन्तक की संज्ञा से। चिन्तक अपने सृजन का केंद्रिय भाव के क्षेत्र के अनुरूप काव्यशास्त्री, राजनीतिज्ञ, अर्थशास्त्री अथवा दार्शनिक कहलाता है।

सामान्यतः सृजन का केन्द्र 'भाव' तथा सृजन का केंद्रिय भाव का 'विचार' स्वीकार किया जाता है। इस धारणा के अनुसार सृजन का केंद्रिय भाव और सृजन पृथक् और परस्पर असंपृक्त जातियों की क्रियाएं प्रतीत होती है। किन्तु, तथ्य यह नहीं है। आधुनिक विज्ञान इस तथ्य को भली–भांति सिद्ध कर चुके हैं कि समस्त भावों, आवेगों, विचारों, संवेदनाओं की आधार–भूमि मस्तिष्क ही है। वस्तुतः 'मस्तिष्क' और 'बुद्धि' पर्याय हैं; और मनुष्य की समस्त बौद्धिक क्रियाएं मस्तिष्क से ही उद्भूत होती है। मस्तिष्क की क्रिया का नाम ही सृजन का केंद्रिय भाव है। इस प्रकार 'सृजन' का वास्तविक रूप तभी स्पष्ट हो सकता है, जब उसे सर्जनात्मक सृजन का केंद्रिय भाव कहा जाये। अतः सृजन का केंद्रिय भाव और सर्जनात्मक सृजन का केंद्रिय भाव, तर्क और सर्जनात्मक

तर्क–मस्तिष्क की ही क्रिया के भेद होने के कारण–एक ही वंश की दो उपजातियां हैं। सृजन का केंद्रिय भाव में सृजन का कितना हस्तक्षेप हो तथा सृजन में सृजन का केंद्रिय भाव का कितना अनुपात हो–इन प्रश्नों पर मतभेद तथा विवाद हो सकता है; किन्तु ये दोनों ही मानवीय मस्तिष्क की सहोदरा प्रक्रियाएं हैं। बुद्धि के अभाव में व्यक्ति न तो सृजन का केंद्रिय भाव कर सकता है, न सृजन ही। फलतः, हम कह सकते हैं कि सृजन का केंद्रिय भाव तथा सर्जनात्मक सृजन का केंद्रिय भाव, एक ही स्थान और एक ही क्रिया से उद्भूत होते हैं; किन्तु कुछ अन्य तत्त्वों की मात्रा के भेद से वे पृथक् उपजातियों में विभक्त हो जाते हैं; विभिन्न, असंपृक्त अथवा विरोधी वंशों से उनका सम्बन्ध स्थापित नहीं होता। सर्जनात्मक सृजन का केंद्रिय भाव नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा की सहायता से नये प्रसंगों, पात्रों अथवा अन्य उपकरणों के संयोजन से निर्माण की ओर प्रवृत्त रहता है। उसमें कर्मशीलता है; जबकि सृजन का केंद्रिय भाव, नियम–निर्धारण के आधार पर, उस निर्माण की परीक्षा कर, अपना निर्णय देता है। उसमें कर्म नहीं, कर्म का परीक्षण है।

ज्ञान–विज्ञान के विकास के साथ 'सृजन' की परिकल्पना में भी अनेक नवीन आयाम जुड़े हैं। आज बुद्धि को निर्वासित कर मात्र भाव की प्रेरणा से सृजन सम्भव नहीं माना जाता। वस्तुतः सृजन, सृजन–प्रक्रिया, अथवा सर्जनात्मक सृजन का केंद्रिय भाव का स्वरूप अन्य मानवीय क्रियाओं के समान पूर्णतः स्पष्ट नहीं है। यद्यपि उसे स्पष्ट करने के लिए वैज्ञानिकों ने महत् प्रयत्न किया है, फिर भी उसके कुछ सोपान आज भी रहस्यपूर्ण बने हुए हैं। सृजन के लिए ऐसे मौलिक विचार का होना आवश्यक है; जिसे मुर्त्त रूप में अभिव्यक्त करने पर, जीवन–मूल्यों के सन्दर्भ में नयी अर्थवत्ता प्रकट हो तथा जो सशक्त भावात्मक प्रेरणा बन सके। हिन्दी साहित्य में जैनेन्द्र का आविर्भाव कथाकार के रूप में हुआ। 'परख' तथा 'सुनीता' के प्रकाशन से प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासकारों में जैनेन्द्र विशेष महत्त्व के अधिकारी बन गये थे; तथा पत्रिकाओं में प्रकाशित उनकी आरंभिक कहानियां भी ध्यानाकर्षित करने लगी थीं। डॉ0 प्रभाकर माचवे द्वारा संपादित 'जैनेन्द्र के विचार' पुस्तक से उनका निबंधकार व्यक्तित्व भी प्रकाश में आया तथा चिंतक एवं दार्शनिक के रूप में भी जैनेन्द्र की चर्चा होने लगी। आज हिंदी साहित्य में जैनेन्द्र को दोंनो ही क्षेत्रों में समान महत्त्व एवं प्रतिष्ठा प्राप्त है। एक ओर जहां उनके ग्यारह मौलिक उपन्यास (परख, सुनीता, त्यागपत्र, कल्याणी, सुखदा, विवर्त, व्यतीत, जयवर्धन, मुक्तिबोध, अनंतर तथा अनामस्वामी) तथा 'जैनेन्द्र की कहानियां' शीर्षक से दस भागों में शताधिक कहानियां प्रकाशित हो चुकी हैं; वहीं दूसरी ओर निबंधों एवं प्रश्नोत्तर–शैली में

अनेक विचार–पुस्तकें (मंथन, सोच–विचार, पूर्वोदय, प्रस्तुत प्रश्न, प्रश्न और प्रश्न, राष्ट्र और राज्य, साहित्य का श्रेय और प्रेय, काम, प्रेम और परिवार, वृत्त–विहार–दो भागों में, इतस्ततः, परिप्रेक्ष, समय और हम, समय, समस्या और सिद्धांत, कहानीः अनुभव और शिल्प आदि) उपलब्ध हैं। निबंधों एवं प्रश्नोत्तरों में से उभरकर आया उनका चिंतक एवं विचारक रूप उनके समस्त साहित्य का साहित्य निष्प्रयोजन नहीं हो सकता–इसमें दो मत नहीं हो सकते।[1] इस संदर्भ में जैनेन्द्र का दृष्टिकोण विचारणीय है।

जैनेन्द्र प्रयोजन और उपयोगिता को प्राथमिक महत्त्व नहीं देते : ''साहित्य को, कला को, धर्म को, ईश्वर को–सब कुछ को प्रयोजन में जानने की चेष्टा निष्फल है। यह नहीं कि वे निष्प्रयोजन है पर आशय यह कि उन सत्यों की सचाई प्रयोजनातीत है।''[2] विश्व को प्रयोजन की माप से मापकर सत्य को पाना संभव नहीं। इसी चिंतना के कारण जीवन में उपयोगितान्वेषियों के प्रति अपने आक्रोश को प्रकट करते हुए जैनेन्द्र लिखते हैं, ''दिल्ली नगर में बच्चों के लिए दूध की जरूरत है और सावन में ये बादल फिर भी पानी ही बरसाते हैं। आकाश सूना खड़ा है, क्यों नहीं गुच्छे–के–गुच्छे अंगूर टपका देता है। हमें जरूरत अंगूरों की है और आकाश निरूपयोगी भाव से बेहयाई के साथ कोरा–का–कोरा खड़ा है। ये बादल और आसमान दोनों निकम्मे हैं। उनसे कोई वास्ता मत रक्खो। . . . हमको पैसे की सख्त जरूरत है, रोटी की बेहद भूख है। और इन सब चीज़ों से न रोटी मिलती है न कौड़ी हाथ आती है। वे अनुपयोगी हैं। मत देखो उनकी तरफ। इनकार कर दो उन्हें। उनसे समाज का क्या लाभ ? . . . तो ऐसी पुकार, कहना होगा कि, निरी बौखलाहट है। वह उपयोगिता की भयंकर अनुपयोगिता है।''[3] जीवन में उपयोगिता के प्रति ऐसे दृष्टिकोण वाले जैनेन्द्र कला के संदर्भ में भी इससे भिन्न नहीं है, ''मस्तिष्क उसका उद्देश्य ढूंढने और पकड़ने में ही उलझा जाता है, उधर व्यक्ति को कुछ क्षण की तन्यमता–एक आनंद, रस, एक शक्ति, एक प्रकार की आत्मानुभूति प्राप्त हो चुकी होती है। जो तीर की तरह अंत तक जा लगे, बुद्धि के पटल और जाल को भेद कर मर्म में घुस जाये, और हलचल उपस्थित कर दे, वह–विद्वान चाहे कितना ही उसे पहेली कहें, विद्वत्ता

[1] (क) ''जैनेन्द्र का उद्देश्य कला की निरूद्देश्यता नहीं हो सकता। उनके लिए कला एक विशिष्ट प्रेश्य अर्थ की माध्यम है।'' विचार और विश्लेषण, डॉ0 नगेन्द्र, पृ0 152
(ख) 'वे अकसर बिना प्रयोजन के नहीं लिखते। पंरतु प्रयोजन उनके स्वानंद का सहोदर है।'' समय और हम, प्रशस्ति, दादा धर्माधिकारी।

[2] मंथन, पृ0 35

[3] वही, पृ0 39

उसका मतलब (what it means) समझने में कितनी ही अकृत–कार्य रहे और वहां उद्देष्य का कितना ही अभाव दीखे–वह सच्ची चीज़ है, उपादेय है, और वह जीने और जिलाने के लिए आयी है। वह कला है। अर्थ अर्थी जगत् अपनी उद्देश्य पूर्णता की परिभाषा के घेरे में उसकी उपयोगिता को न बांध पाये, इसमें अचरज नहीं। प्रत्युत यह तो बिल्कुल स्वाभाविक और सम्भवनीय है। पर इससे जगत् को चिढ़ना न चाहिए, न हठात् उस कला को निर्वासित और संकुचित करने की कोशिश करनी चाहिए। इससे उसकी उपयोगिता न कम वेगवती होती है, न कम मूल्यवती, और न ही कम आदरणीय।''[4]

इन उक्तियों के आधार पर यह धारणा बना लेना भ्रामक होगा कि जैनेन्द्र के लेखन के पीछे कोई निश्चित प्रयोजन नहीं है; तथा उससे किसी विशिष्ट जीवन–दर्शन, जीवन के मानक तत्त्वों, युग–बोध अथवा युग–धर्म की आशा नहीं की जा सकती। जैनेन्द्र की अनेक ऐसी उक्तियां उपलब्ध होती हैं जो सर्वथा भिन्न विचारधारा को सामने लाती हैं।[5] जैनेन्द्र के प्रथम उपन्यास 'परख' के 'लेखक के कुछ शब्द' की प्रस्तुत पंक्तियां इस तथ्य पर प्रकाश डालती हैं : ''वह उपन्यास किसी काम का नहीं जो इतिहास की तरह घटनाओं का बखान कर जाता है। काम से मतलब; वह दुनिया को आगे बढ़ाने और बढ़ने में जरा मदद नहीं देता क्योंकि न वह इतिहास होता है, न उपन्यास ही।'' इसी सन्दर्भ के आगे बढ़ाते हुए जैनेन्द्र अपने मन्तव्य को और स्पष्ट करते हैं : ''उपन्यास का काम है, कुछ आगे की– भविष्य की सम्भावनाओं की जरा झांकी दिखाना। और जो कुछ अब है, उसकी तह हमारे सामने खोलकर रख देना। उपन्यास एक नये अजीब ही ढंग से रंगे और उपादेय जीवन का चित्र हमारे सामने रखता है। जीवन के साधारण कृत्य और उलझी गुत्थियों को सुलझाकर और खोल खोलकर रख देना। उपन्यास, इस तरह, सत्य में स्वप्न की पुट देकर वास्तव में कल्पना मिलाकर, व्यवहार से आदर्श का साम्य और सामंजस्य स्थापित कर और वर्तमान पर भविश्य का रंग चढ़ाकर जीवन का वह रूप पेश करता है जो जीवन से मिलता–जुलता है, फिर भी अनोखा है, जिससे मनोरंजन भी प्राप्त होता है और शिक्षा भी और जिससे हठात् एक नयी चीज़ हृदय में पैठ जाती है और हम जरा आगे बढ़ जाते हैं''

---

[4] मंथन, पृ0 4–5

[5] (क) ''पुस्तक में मैंने कहानी कोई लम्बी–चौड़ी नहीं कही है। कहानी सुनाना मेरा उद्देष्य ही नहीं है।'' सुनीता, प्रस्तावना, पृ0 3

(ख) ''दिल बस्तगी की कहानी चाहिए तो हटिए मुझे न सताइए।'' सोच–विचार, पृ0 46

ऐसी परस्पर–विरोधी उक्तियां किसी निष्कर्ष पर सहज ही नहीं पहुंचा सकतीं। उपन्यास की उपर्युक्त व्याख्या देने वाला उपन्यासकार स्वयं ही अन्यत्र स्पष्ट कह देता है, ''मेरा काम बताना नहीं है। लेखक का यह काम होता भी नहीं है। उपदेशक दुसरे जन होते हैं। वे पुरूष अधिक गंभीर और समर्थ होते हैं। लेखक असमर्थ होता है, या कि होना चाहिए। असमर्थ का आशय कि नेतृत्व नहीं ले सकता। वह चलाता नहीं है, मानो चलना चाहता है। साधु के भी साथ, दुष्ट के भी साथ। कोई उसका अपना अलग मार्ग नहीं है कि सच्चा मानने की वजह से उस पर सबको चलाना चाहे। नहीं लेखक वह प्राणी नहीं है। मैं तो हूं ही नहीं।''[6]

जैनेन्द्र अपने सृजन का प्रयोजन लोक–हित न मानकर 'स्वांतः सुख' को ही स्वीकार करते हैं तथा पाठक के लिए 'शिक्षण' अथवा 'उपदेश' के दायित्व से उसे मुक्त कर देते हैं किन्तु साहित्य को निष्प्रयोजन मानने का आग्रह उनका नहीं है। 'कला कला के लिए' अथवा 'कला जीवन के लिए'– इन दो वादों में से किसी एक वाद विशेष का पक्ष न लेकर वे 'कला ईश्वर के लिए' की स्थापना करते हैं। कला का उद्देश्य आत्माभिव्यक्ति मानते हुए वह यह भी स्पष्ट करते हैं कि कलाकार का लक्ष्य ईश्वर अर्थात् सत्य की प्रतिष्ठा करना है। सत्य की प्रतिष्ठा के लिए साहित्य–सृजन करने वाला साहित्यकार अपने प्रति सच्चा रहकर जब साहित्य सृजन करता है तो उसका साहित्य स्वयं ही लोकमंगल की भावना से संलग्न हो जाता है। लेखक आत्मदान करता है, किन्तु उसी से वह पाठक में सहानुभूति उत्पन्न करता है तथा उसी के बल पर वह पाठक को अपने मार्ग पर ले चलने में समर्थ होता है।

जैनेन्द्र की उपर्युक्त मान्यताओं के आलोक में स्पश्ट हो जाता है कि वह साहित्य को निष्प्रयोजन नहीं मानते। इसी कारण परम्परा से चली आयी रसवादी दृष्टि उन्हें इष्ट नहीं है। 'विचार' से स्वतंत्र भावानुभूति किसी साहित्यिक कृति को श्रेष्ठ नहीं बना सकती। रसमय साहित्य को विचार ही अर्थ–गरिमा से मंडित करता है। इस दृष्टि से समस्त सृजन के मूल में चिंतन का महत्व जैनेन्द्र भी स्वीकार करते हैं।

जैनेन्द्र का साहित्य, साहित्य में चिंतन अथवा विचार के महत्व को प्रतिपादित करने का अत्यंत स्पष्ट उदाहरण है। उनका कथा–साहित्य विचार–प्रतिपादन के लिए रचा गया है। पाठक पर भी उसका प्रभाव विचारोत्तेजन का ही होता है। उनके सभी उपन्यासों तथा कहानियों में प्रमुख लक्ष्य

[6] इतस्ततः, पृ0 99

विचार विशेष का संप्रेषण है। कथा इस प्रकार बुनी जाती है, पात्र इस प्रकार निर्मित होते हैं कि विचार पाठक तक प्रत्यक्ष रूप में प्रेषित हों। कथा साहित्य के अतिरिक्त निबंधों एवं प्रश्नोत्तर ग्रंथों के माध्यम से भी वे अपने विचारों को ही अभिव्यक्ति देते हैं, जहां वह सीधे पाठक तक अपनी बात पहुंचा सकें; बीच में कथा अथवा पात्रों तक का व्यवधान न हो।

जैनेन्द्र की यह विचारकता एक और तो उन्हें हिंदी के अन्य कथा–लेखकों से भिन्न चिंतक–सर्जक की कोटि में प्रतिष्ठित करती है, किंतु दूसरी ओर आलोचकों को यह विचारकता ही उनके सर्जक को भारी क्षति पहुंचाती प्रतीत है।[7] इस विचारकता के कारण जैनेन्द्र हिन्दी साहित्य में चिन्तक के रूप में भी जाने जाते हैं तथा अनेक आलोचक उनके इस रूप को कथाकार से अधिक महत्त्व देते हैं।[8]

जैनेन्द्र की सृजन–प्रक्रिया

जैनेन्द्र ने अपनी रचनाओं के सृजन के सम्बन्ध में विस्तार से लिखते हुए बताया है कि उनकी रचनाएं उनके चिंतन, आंतरिक मंथन में से उदित होती है। उनकी रचनाओं का आरम्भ किसी एक विचार से होता है जिसको वे अपने अनुभव एवं कल्पना के आधार पर साकार करते हैं। जीवन के प्रति दृष्टि भी जैनेन्द्र तत्त्व–मंथन से ही प्राप्त करते हैं, प्रत्यक्ष अनुभव से नहीं। विचार–बीज से रचना के उदय की अनेक घटनाएं जैनेन्द्रजी ने अपने संस्मरणों में वर्णित की हैं। इन संस्मरणों से स्पष्ट है कि उनकी रचनाओं का उदय ही नहीं, उनमें प्राण–प्रतिष्ठा का कार्य भी उनका वैचारिक मंथन करता है। हिन्दी साहित्य में जैनेन्द्र का आविर्भाव कथाकार के रूप में हुआ। 'परख' तथा 'सुनीता' के प्रकाशन से प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासकारों में जैनेन्द्र विशेष महत्त्व के अधिकारी बन गये थे; तथा पत्रिकाओं में प्रकाशित उनकी आरंभिक कहानियां भी ध्यानाकर्षित करने लगी थीं। डॉ0 प्रभाकर माचवे द्वारा संपादित 'जैनेन्द्र के विचार' पुस्तक से उनका निबंधकार व्यक्तित्व भी प्रकाश में आया तथा चिंतक एवं दार्शनिक के रूप में भी जैनेन्द्र की चर्चा होने लगी।

आज हिंदी साहित्य में जैनेन्द्र को दोंनो ही क्षेत्रों में समान महत्त्व एवं प्रतिष्ठा प्राप्त है। एक ओर जहां उनके ग्यारह मौलिक उपन्यास (परख, सुनीता, त्यागपत्र, कल्याणी, सुखदा, विवर्त, व्यतीत,

[7] ''सर्जनशील लेखक के रूप में जैनेन्द्र पिछले वर्षों में अधिकाधिक चुकते गये हैं और उनका नीतिकार और उपदेशक का रूप ही अधिक उभरकर सामने आता गया है।'' अधूरे साक्षात्कार, नेमिचन्द्र जैन, पृ0 103

[8] ''जैनेन्द्र का विचारक रूप उनके कथाकार रूप से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। वरन् वही उनका सत्य यथार्थ रूप है'', समय और हम, उपोद्धात (वीरेन्द्र कुमार गुप्त), पृ0 6

जयवर्धन, मुक्तिबोध, अनंतर तथा अनामस्वामी) तथा 'जैनेन्द्र की कहानियां' शीर्षक से दस भागों में शताधिक कहानियां प्रकाशित हो चुकी हैं; वहीं दूसरी ओर निबंधों एवं प्रश्नोत्तर–शैली में अनेक विचार–पुस्तकें (मंथन, सोच–विचार, पूर्वोदय, प्रस्तुत प्रश्न, प्रश्न और प्रश्न, राष्ट्र और राज्य, साहित्य का श्रेय और प्रेय, काम, प्रेम और परिवार, वृत्त–विहार–दो भागों में, इतस्ततः, परिप्रेक्ष, समय और हम, समय, समस्या और सिद्धांत, कहानीः अनुभव और शिल्प आदि) उपलब्ध हैं। निबंधों एवं प्रश्नोत्तरों में से उभरकर आया उनका चिंतक एवं विचारक रूप उनके समस्त साहित्य का साहित्य निष्प्रयोजन नहीं हो सकता–इसमें दो मत नहीं हो सकते।[9] इस संदर्भ में जैनेन्द्र का दृष्टिकोण विचारणीय है।

निष्कर्षः

उनके विचार–साहित्य की सृजन–प्रक्रिया भी पर्याप्त विशिष्ट है। वे अपने रचनाकाल के आरम्भ से ही प्रश्नकर्ताओं की खोज में रहें हैं। वे प्रश्नों को, चाहे वे उनके अपने मन से उठें या बाहर प्रश्नकर्ता की ओर से आएं, टालते नहीं; वरन् उन्हें सहर्ष आमंत्रण देते हैं। प्रश्नों के सहारे वे अपनी दृष्टि और अनुभूति का मंथन करने उन प्रश्नों के उत्तर देते हैं। बाद में ये प्रश्नोत्तर पुस्तकाकार प्रकाशित होते हैं। प्रश्नों से उलझने में जैनेन्द्र को वास्तविक आनन्द की प्राप्ति होती है। तात्त्विक चर्चा में उलझने को वे विशेष उत्कंठित रहते हैं। उनके व्यक्तित्व एवं स्वभाव की इन्हीं विशेषताओं उन्हें चिन्तक का ऐसा पद प्राप्त हुआ है जिसके आसन पर बैठकर वे जीवन और जगत के विभिन्न क्षेत्रों के प्रश्नों के उत्तर देते आचार्य–से प्रतीत होते हैं। किन्तु यहां यह स्पष्ट कर लेना अत्यंत आवश्यक है कि सृजन का केंद्रिय भाव की इस प्रवृत्ति के कारण उन्हें साहित्येतर क्षेत्र का व्यक्ति मान लेना भूल होगी। जैनेन्द्र अपने इन दोनों रूपों में कथाकार रूप को ही अपना वास्तविक रूप मानते हैं।

[9] (क) ''जैनेन्द्र का उद्देश्य कला की निरूद्देश्यता नहीं हो सकता। उनके लिए कला एक विशिष्ट प्रेष्य अर्थ की माध्यम है।'' विचार और विश्लेषण, डॉ0 नगेन्द्र, पृ0 152
(ख) 'वे अकसर बिना प्रयोजन के नहीं लिखते। परंतु प्रयोजन उनके स्वानंद का सहोदर है।'' समय और हम, प्रशस्ति, दादा धर्माधिकारी।